International Journal of Humanities and Social Science Invention (IJHSSI)
ISSN (Online): 2319 – 7722, ISSN (Print): 2319 – 7714
www.ijhssi.org ||Volume 6 Issue 12||December. 2017 || PP.79-89

हिंदी नवगीत : परंपरा एवं विकास

डॉ.राम अधार सिंह यादव

एसोसिएट प्रोफेसर

हिंदी-विभाग एस.एम.कालेज चन्दौसी सम्भल उ.प्र.

गीत मानव जीवन की अभिव्यक्ति है| जीवन का इतिहास आज का नहीं सृष्टि के प्रारंभ का इतिहास है| गीत का भी आधार वही सृष्टि है| जीवन स्वयं में एक सृष्टि है जो अपने समय में कितने ही स्थिति-परिस्थिति, सुख-दुःख, वेदना-संवेदना और अन्य अनेक स्थितियों को जन्म देती रहती है| व्यक्ति प्रकृति-प्रदत्त इन सभी रूपों से अनजान होता है| जाने-अनजाने स्वागत उसे करना ही पड़ता है| दुःख आये फिर भी, सुख आये फिर भी | घोर विपदा और अपार कष्ट के समय में भी ख़ुशी के क्षण खोजना उसे पड़ता ही है| पर किसी भी वस्तु या स्थिति विशेष की खोज के लिए साधन या संसाधन की आवश्यकता जरूर पड़ती है| गीत वही साधन है| भारतीय परिवेश में गीत की उपस्थिति उसके रीतियों–रिवाजों से जुड़कर चलती है| तीजों-त्यौहारों से लेकर साधारण से साधारण व्यवहारों तक गीत का प्रयोग जनसामान्य द्वारा होता आया है|

ग्रामीण अंचलों की बात करें तो संसाधन के रूप में प्रकृति-प्रदत्त एक विशेष उपहार है यह गीत| मानव मन को दुःख की अतल गहराइयों से निकालकर सहज स्वाभाविक स्थिति में लाने वाला यही गीत है| लोकमानस की वे समस्त दशाएं जो उसके जीवन में घटित होती हैं और जिनका उपभोग वे अपना जीवनयापन करते हुए करते हैं वे सब के सब इस गीत के ही विषय-वस्तु हैं| गीत के सम्बन्ध में नचिकेता जी का यह कहना कितना सही है “गीत की रचना का सम्बन्ध लोक (जन)-मन की गति से होता है। गीत में जनमन के अवसाद-उल्लास, सुख-दुख, उत्सव-आनन्द, हँसी-खुशी, अवसाद-उल्लास, उमंग-उत्साह, आशा-आकांक्षा, जय-पराजय और परिवर्तनकामी संघर्ष-चेतना की अभिव्यक्ति होती है साथ ही जन-आन्दोलन में गीत रचना की लोकप्रियता, रचनात्मक गतिशीलता और विकास को सही दिशा मिलती है| तात्पर्य यह है कि गीत जब-जब जनमन और जन आन्दोलनों के करीब आया है उसकी रचनाशीलता गतिशील हुई और उसकी लोकप्रियता भी बढ़ी है|”[1]

विद्यापति से लेकर कबीर, तुलसी, सूरदास, मीराबाई आदि के द्वारा हिंदी-साहित्य की एक विशेष परंपरा ही रही है जिन्होनें जनसामान्य के रागात्मक अनुभूतियों को न सिर्फ अभिव्यक्ति दिया है अपितु उनके मनोभावों, स्वभावों और संवेदनाओं को इन्हीं गीतों के माध्यम से जन-भूमि पर प्रस्तुत कर, उनके अन्दर सुन्दर और सकारात्मक मानवीय सरोकारों को फलने-फूलने और विकसित होने के लिए एक व्यापक फलक प्रदान किया है| मध्यकालीन साहित्य के बाद हिंदी साहित्य के भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और उसके बाद छायावादी कविता का युग गीत विधा के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा| “हिंदी साहित्य के छायावादी तथा उत्तर-छायावादी युग में तो गीत सम्माननीय लोकप्रिय काव्य-विधा के रूप में प्रतिष्ठित रहा|” आज उसी व्यापकता का प्रतिफल है कि लाख विरोधों, अवरोधों और अडचनों के बावजूद भी यह गीत अपनी जमीन जन-समुदाय से जोड़कर रखी है|

यह स्वीकार करने में कोई आश्चर्य नहीं है कि हिंदी कविता की ही तरह साहित्य की इस विधा को भी वादों और विवादों में कसने का प्रयत्न बराबर होता रहा है| कभी इसे गीत कहा गया तो कभी नवगीत, कभी अगीत के नाम से परिभाषित किया गया तो कभी जनगीत के नाम से पर तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद अपनी उपस्थिति गीत ने जनमानस में वर्तमान बनाए रखा है| जिस प्रकार कविता के पारंपरिक उपमानों, प्रतिमानों एवं स्थापनाओं से विद्रोह करते हुए कवियों ने नई कविता की नींव रखी उसी तर्ज पर गीत के पारंपरिक ढांचे में परिवर्तन की मांग को रखते हुए नवगीत की आधारशिला रखी गयी | आज इसे नवगीत के नाम से ही जाना जाता है और यदि मधुकर आष्ठाना जी की मानें तो “नवगीत किसी वाद का प्रवर्तक नहीं है बल्कि मुक्त मानसिकता के साथ मानवता का पोषक है और मानवीय दृष्टिकोण से अपने समय की जाँच, परख कर प्रस्तुत करता है|”[2]

नवगीत को किसी काल सीमा में बांधना कुछ विद्वानों को ठीक नहीं लगता| वे प्रत्येक समय में लिखी गयी नवीन अभिव्यक्ति-काव्य क्षमता को नवगीत मानने के हिमायती हैं| इस दृष्टि से नवगीत का अर्थ और उसके उद्भव-वर्ष पर प्रकाश डालते हुए शम्भूनाथ सिंह जी ने लिखा है-"नवगीत एक आपेक्षिक शब्द है | नवगीत की नवीनता युग सापेक्ष्य होती है | किसी भी युग में नवगीत की रचना हो सकती है| गीत-रचना की परम्परा-पद्धति और भावबोध को छोड़कर नवीन पद्धति और विचारों के नवीन आयामों तथा नवीन भाव-सरणियों को अभिव्यक्ति करने वाले गीत जब भी और जिस युग में भी लिखे जायेंगे, नवगीत कहलायेंगे|"[3] ध्यान देने की बात तो ये है कि नवीन पद्धति और विचारो के नवीन आयाम हिंदी गीतों में छायावाद के दौर से ही प्रारंभ होता है| निराला, पंत, महादेवी और प्रसाद इस नवीन परम्परा के उद्घाटक माने जाते हैं| इनके गीतों में इन्हीं नवीनताओं का समावेश दिखाई देता है| "पहले पहल छायावाद के अंतर्गत महाप्राण निराला ने परंपरागत गीतों के वस्तु, कथ्य एवं शिल्प में, गीति-विधा के विकास की असमर्थता एवं अशक्तता का अनुभव कर गीतों के शिल्पिक विधान का पुनःसंस्करण कर गीतों की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनर्स्थापन किया था| निराला के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए आने वाली गीतकारों की आत्मा भी गीतों को नई चेतना से अनुप्राणित करने के लिए सततशील थी|[4] नई चेतना युग की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक भी थी|

एक तरफ जहां रचनाकारों का छायावादी प्रवृत्तियों से मोहभंग हो रहा था वहीं दूसरी तरफ प्रगतिशील विचारधारा के आकर्षण में उनका हृदय नवीन चेतना से उद्भूत होकर जन-सामान्य के दुःख-दर्द में अपनी रचनात्मक सहभागिता हेतु प्रयत्नशील भी हो रहा था| हालांकि इस विचारधारा में बौद्धिकता की अतिशयता होने की वजह से काव्य की सृजन प्रक्रिया सपाट और सतही रूप में बढ़ते हुए उथलेपन का शिकार हो रही थी पर जन-संवेदनाओं से जुड़ने की भूख और ललक ने उस समय के गीतों एवं नवगीतों को नया रूप देने में सम्बंधित रचनाकारों को प्रभावित जरूर किया| "पहली बार गीतकारों को अनुभव हुआ कि कल्पना की रमणीयता से भी अधिक सुन्दर जीवन की कुछ सच्चाइयां हैं| प्रथम बार गीतकारों के सामने जन-सामान्य के जीवन की विसंगतियों ने सिर उठाया| वीरेन्द्र मिश्र की यह काव्य-पंक्ति 'दूर होती जा रही है कल्पना, पास आती जा रही है जिंदगी' इस बात का प्रमाण है कि उस समय के गीतकार के दृष्टिकोण में एक मौलिक परिवर्तन आने लगा था|...प्रगतिशील चेतना का दूसरा शुभ प्रभाव यह पड़ा कि गीतों में लोकजीवन का रचाव प्रमुखता से आने लगा| छायावादी गीतों की एकरसता तथा बासीपन को तोड़ने के लिए लोक-जीवन का स्फूर्तिदायक संस्पर्श काफी था| कवि कल्पना लोक से नीचे उतरकर अंचल में रचे-बसे जन-जीवन की सुगंध को झोलियों में भरने लगा|"[5] यहाँ आकर गीतकारों द्वारा खेत-खलिहानों के साथ किसानों के श्रमपूर्ण जीवन और संघर्षपूर्ण स्थिति को अभिव्यक्ति दिया जाने लगा| "प्रगतिवादियों से यथार्थ की नयी जमीन लेकर, प्रयोगवाद में गीत अपने नये बिम्ब लेकर, भाषा की नई ताजगी लेकर, जन-जीवन के निकट आये थे| धर्मवीर भारती, केदारनाथ सिंह, गिरिजाकुमार माथुर आदि प्रयोगशील कवियों ने गीत जगत को निश्चित रूप से श्रेष्ठ और अभिनव गीत प्रदान किये|"[6]

गीत साहित्य के इस नवीन रूप को सार्थक संज्ञा प्राप्त करने में वैचारिक अंतर्द्वंद्व को झेलना पड़ा| उस समय के आलोचकों एवं स्वयं गीतकारों द्वारा इसे नवगीत कहने में संकोच होता रहा| यह संकोच इसलिए भी संभव था क्योंकि परंपरा को तोड़कर नवीनता के स्वरुप में प्रतिष्ठापित होना या करना, जहां एक तरफ उस समय के प्रतिरोध को सहने की क्षमता विकसित करना होता है वहीं नवीन रीतियों तथा आयामों के सृजन का प्रयास भी करना होता है| इस जहमत से बचने के लिए अक्सर होता ये है कि उसी के सामानांतर यात्रा करती हुई किसी अन्य परिचायिक संज्ञा के साथ उसका नाम जोड़ दिया जाता है| नवगीत के साथ यही हुआ| इसे नवगीत के रूप में न स्वीकार करके नयी कविता का प्रतिरूप मानने का प्रयत्न अधिक हुआ|

इस प्रयत्न के मूर्तमान होने के पीछे की जो वजह थी उसको स्पष्ट करते हुए माधव कौशिक ने लिखा है "प्रयोगवाद के दौरान ही कवियों ने काव्य की समस्त विधाओं को त्यागकर केवल 'कविता' को ही प्रतिष्ठापित किया, इसलिए स्वयं गीतकारों ने गीत को छोड़कर कविताओं की ही रचना की| युगीन साहित्यिक परिदृश्य का दबाव कितना अधिक हो सकता है इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 'युगीन परिप्रेक्ष्य के प्रतिकूल' होने के भय से आक्रांत होकर समर्थ रचनाकारों ने भी गीत विरोधी माहौल को हवा दी|"[7] देवेन्द्र कुमार नवगीत को ''नयी कविता की आतंरिक विवशता'' मानते हैं ''औपचारिकता भर नहीं'' जबकि महेश्वर तिवारी का मानना है कि "नया गीत नयी कविता की भीतरी संवेदना का अभिव्यक्त रूप है|" उदयभानु मिश्र नवगीत को नयी कविता से अलग करके देखने के पक्ष में बिल्कुल नहीं हैं| उनका मानना है कि "नया गीत नयी कविता ही है, उससे स्वतंत्र कोई विधा नहीं और नए गीतों का संकलन नयी कविता की लयात्मक क्षमता, परिमार्जित गेयता और स्फूर्जित

चेतना की एक झलक पाने का प्रयास मात्र होगा, नए गीत को नयी कविता से हटाकर अलग प्रतिष्ठित करना कदापि उचित नहीं|"[8]

यदि इस विधा के नामकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने का प्रयत्न किया जाए तो सन् 1958 ई० में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित गीत-संकलन "गीतांगिनी' में स्वयं उनके द्वारा दी गयी थी| गीत संकलन में सम्मिलित गीतों के विषय में अपना अभिमत प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था-"समकालीन हिन्दी-कविता की महत्तवपूर्ण और महत्तवहीन रचनाओं के विस्तृत आन्दोलन में गीत परंपरा 'नवगीत' के निकाय में परिणति पाने को सचेष्ट है| 'नवगीत' नयी अनुभूतियों की प्रक्रिया में संचयित मार्मिक समग्रता का आत्मीयपूर्ण स्वीकार होगा, जिसमे अभिव्यक्ति के आधुनिक निकायों का उपयोग और नवीन प्रविधियों का संतुलन होगा|"[9] जाहिर सी बात है कि नवगीत में पारंपरिक गीतों के शिल्प-बुनावट और भाव-सम्प्रेषण की भंगिमा से मुक्त होने की छटपटाहट तो थी ही, नवीन आयामों एवं परिधानों को स्वीकारने की ललक भी विद्यमान थी|

इस विद्यमानता का प्रभाव उस समय के सम्पूर्ण साहित्यिक परिदृश्य पर पड़ते देख सन् 1969 ई० के 'गीतांगिनी पत्रिका' के 'नवगीत अंक' में डॉ० राजेंद्र प्रसाद सिंह ने इस नाम की सार्थकता और उसके स्थापना के पीछे व्याप्त कारणों पर अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा-"गीतांगिनी के सहयोगियों ने आधुनिकतर गीत, बिम्ब गीत, तात्विक गीत आदि कुछ नामों का सुझाव दिया था किन्तु मैनें गीतों की संभावना को काल, प्रवृत्ति और शिल्प की एकान्तिक सीमा में बांधना चाहा था, तभी नवगीत की संज्ञा दी| नयी कविता के कवियों द्वारा प्रस्तुत गीत, पिछली पीढ़ियों के परवर्ती और ईशत् भिन्न गीत और छायावादोत्तर विवेककल्प गीतकारों के नवयोजित गीत कोई श्रेणिक नाम नहीं पा सके थे| साथ ही नई पीढ़ी के गीतकार भी अपने सहज नूतन गीतों के लिए ऐसे नाम खोज रहे थे...अंततः नवगीत संज्ञा ही सर्वाधिक उचित प्रतीत हुई|"[10] यह इसलिए भी उचित प्रतीत हुई क्योंकि बदलते जीवन-मूल्यों, राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर घटते घटनाओं, समाज में नित-प्रतिदिन बढ़ रहे जनता के असंतोष, ग्रामीण बोध की व्यापकता और महानगरीय शहरीकरण के प्रति बढ़ता आक्रोश गीत के पारंपरिक विधा में अभिव्यक्ति पाना आसान नहीं था| इसलिए नवीन भाव, शिल्प तथा कथ्य के नवीन आयामों के साथ रचनाकारों ने नवगीत विधा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया|

डॉ० प्रेमकुमारी कटियार से बातचीत के दौरान डॉ० ओमप्रकाश सिंह ने नवगीत के विषय-वैविध्य को स्पष्ट करते हुए कहा-"छायावादोत्तर कविता जब अपनी रूमानियत के दायरे से बाहर निकल नहीं पा रही थी और उसका व्यक्तिवाद सामाजिक संवेदना की ओर उन्मुख होने से कतार रहा था अर्थात् वह स्वयं की पीड़ा को रेखांकित करने में जुटा था| ऐसी स्थिति में परंपरा से थोड़ा हटकर अनुभूति की ताजगी और अभिव्यक्ति की नवता लेकर नवगीत व्यक्ति पीड़ा को सामाजिक पीड़ा के धरातल पर खड़ा करके नए सृजन की अनुगूंज करने लगा| उसने परिस्थितियों से विद्रोह और विरोधों को तोड़ते हुए अपनी तीव्र जिजीविषा के साथ गीतों को आकर दिया जिसमे मनुष्य और समाज की मूल चिंता प्रकट होती है| युगीन परिवर्तन के कारण आज का आंचलिक बोध और वैज्ञानिक बोध खुलकर सामने आया|"[11]

स्वरूप की दृष्टि से गीत, नवगीत और नयी कविता के अंतर को स्पष्ट करते हुए शंभूनाथ सिंह ने लिखा है "नवगीत स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् तीन दशकों में विकसित वह नवीन काव्यधारा है जो एक ओर तो पारंपरिक गीत धारा से नितांत भिन्न है, दूसरी ओर सामयिक नयी कविता से कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर पूरी तरह अलग हटी हुई है| मात्र गीत कहने से उसकी पहचान खो जाती है और नयी कविता कहने से उसकी अस्मिता ही लुप्त हो जाती है| अतः नवगीत ही सार्थक नाम है|"[12]

निश्चित ही नवगीत विधा को न तो नयी कविता की श्रेणी में रखकर देखा जाना चाहिए और न ही तो पारंपरिक गीत की श्रेणी में| काव्य-विधाओं का एक दूसरे से सम्बंधित होना अलग बात है, उसकी अभिव्यक्ति क्षमता में विद्यमान नवीनता और गहनता को रेखांकित करना एक और बात| नवगीत विधा ने अभिव्यक्ति के नवीन प्रतिमानों को अपनाकर यह सिद्ध कर दिया कि भावों को व्यक्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि समृद्ध छांदस विधा को अपनाकर ही चला जाए| कहने की जिज्ञासा और समय-समाज की समझ हो तो बात को पारंपरिक प्रतिमानों से हटकर कुछ नवीन छन्दों के स्थापनाओं के साथ भी कहा जा सकता है|

हिंदी काव्य साहित्य में नवगीत विधा समाज की यथार्थ परिस्थितियों को देखने का, उसका निराकरण खोजने एवं मानवीय संभावनाओं को तलाशने का एक कुशल माध्यम है| यह माध्यम इसलिए भी सफल और कारगर साबित हो रहा है

क्योंकि गहरे यथार्थ से देखा जाए तो आज का समय पूर्णरूप से बदल चुका है| समय के बदलाव में जीवन जीने के तरीकों में भी परिवर्तन आया है| आर्थिक एवं सामाजिक स्तर पर इस परिवर्तन ने एक हद तक लोगों के अन्दर भय, हिंसा, चिंता, घृणा, ईर्ष्या, असुरक्षा आदि मानवीय स्वभाव के अस्वाभाविक भावों को उपजने और अपने विकराल रूप में उपस्थित होने का अवसर दिया है| इस अवसर के घेरे में क्या गाँव, क्या शहर, क्या देश, क्या विदेश एक समान रूप से सभी घिरे हुए हैं| सभी विचलित हैं, टूटे हुए हैं| उनके टूटने के साथ-साथ परम्पराएं टूटी हैं| समाज बिखरा है| बिखराव में लोग एक दूसरे से जितने दूर हुए, उससे कहीं अधिक करीब भी हुए हैं| परन्तु करीबी होने का स्वभाव मात्र बाह्य प्रभाव के रूप में ही देखा और परखा गया है| आतंरिक दृष्टि से सभी खोखले, भटके हुए और भ्रमित हैं| भ्रम और भटकाव की स्थिति में स्थायित्व नहीं होता| जहाँ और जिस परिवेश में स्थायित्व न हो वहाँ जंगल होता है| पहचान नाम की कोई स्थिति ऐसे वातावरण में नहीं होती| अपरिचित के भाव में सभी सराबोर अवश्य होते हैं| यहाँ नवीन रोपित बृक्षों में अंकुरण तो होता है पर बंजर, प्रभावहीन और पूर्णतः ऊसर-डॉ० राधेश्याम शुक्ल के इस नवगीत में इसी परिवर्तन को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है-उनकी दृष्टि में इस समाज में-

पूरे जंगल
और कुछ नहीं
वही ढाक के तीन पात हैं| फैले हैं
अंतर्विरोध के याराने
मौसम का रुख
कोई कैसे पहचाने?
रंग-रूप, रस-गंध
लपेटे,
देवदारु बौनी बिसात है|
रोज नई कोपलें
किन्तु,
निष्फल शाखें,
हरीतिमा के पीले ख़त
बाँचें आँखें|
ततबीरी
टोने टोटके,
करती पछुवाँ के खुराफ़ात हैं||[13]

'पछुवाँ के खुराफ़ात' की महत्त्वपूर्ण भूमिका जनसंचार माध्यमों द्वारा निभाया गया| जनसंचार और मीडिया के इस अत्याधुनिक युग में दूर और पास के समीकरण को ही लोग भूल गए हैं| दूर और पास के समीकरण से तात्पर्य उन स्थितियों से है जिसके आवरण में रहते हुए मानव-समाज रिश्ते और नातों का चयन करता था| रीतियों-रिवाजों का निर्धारण करता था| आचार-विचार एवं संस्कारों का प्रचार-प्रसार करता था और फिर इन सबके माध्यम से कुशल सामाजिक व्यवहार की अनुपालना करता था| आज यह प्रवृत्ति मद्धिम पड़ चुकी है| "आज समाज निरंतर पत्नोंमुख है| उसमें संवेदनहीनता और मूल्यहीनता इस कदर हावी हो चुकी है कि बस पूंछो ही मत| परस्पर भाईचारे की भावना, सहनशीलता, सहयोग तथा वे सभी जीवनमूल्य जिनपर प्राचीन समय में लोग गर्व करते थे अब गुजरे ज़माने की बात हो चुके हैं|"[14] पारंपरिक परिवेश के विघटन और नवीन परिवेश के अनवरत विकसित होते रहने पर उपस्थित हुए मूल्य-संकट पर बृजनाथ श्रीवास्तव की 'नये ज़माने में' नवगीत की ये पंक्तियाँ देखि जा सकती हैं-

टूटे रिश्ते
टूट गए घर
नए जमानें में

डूबे सब पैमाने में
एक दूसरे
की पीठों के
बीच खड़ी दीवाल
पूरब-पश्चिम
मिले कहाँ कब
कैसे पूछें हाल
जाने क्यों सब
कुटिल चाल को
व्यस्त बिठाने में.....
हमने धूप
सही जीवन भर
बाँटी सबको छाँव
पंख परिंदों
के ज्यों निकले
उड़े, दे गए दाँव
सौगात बचा
बस सूनापन
साथ निभाने में"[15]

वर्तमान समय में आचार-विचार एवं संस्कार के संभावनाशील लोक-मूल्यों का नाम लेने का अर्थ स्वयं को रूढ़िवादी एवं परम्परावादी जड़ मानसिकता का पोषक सिद्ध करना हो गया है| अज्ञेय के शब्दों में कहें तो इस समय "लगभग यह स्थिति हो गयी है कि अगर आप में किसी तरह का भी कोई मूल्य-बोध बाकी है तो आप न आधुनिक हैं, न वैज्ञानिक हैं, न सभ्य हैं-केवल एक पुराने खूसट हैं जिसे अवज्ञापूर्वक जितनी जल्दी रास्ते से हटा दिया जाय उतना ही अच्छा|"[16] अब मंडली और सुरक्षित मार्ग पर बने रहने के लिए अपनी परम्पराओं, संस्कृतियों एवं नीतियों को गाली देना एक चलन सा हो गया है| इस चलन में भागीदारी सभी निभा रहे हैं| परिणामतः परिष्कृत एवं सुसंकृत मूल्यों का विघटन हो रहा है| मूल्यों का विघटन सम्पूर्ण मानव-जाति का विघटन है| नवगीतकार माधव कौशिक की चिंता मूल्यों के संरक्षण को लेकर है-

"क्या जाने
कब रुक पायेगा
मूल्यों का
यह अवमूल्यन
गिरती गिरते धरा
रसातल तक आई
सर की पगड़ी उछली/
पायल तक आई
मानव का पर्याय
हो गया खालीपन"[17]

इस प्रकार के प्रयत्नों के साकार न हो पाने में एक कारण हो सकता है जो हमें उस रूप में कार्य करने के लिए रोके जो यथार्थतः हमको करना है| वह कारण है पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति| सभ्यता की बात करें तो हमारी युवा पीढ़ी पूर्ण रूप से इसके शिकंजे में फंसती जा रही है| जितनी छटपटाहट पारिवारिक बंदिशों एवं सामाजिक अनुशासनों से मुक्त होने की है उससे

कहीं अधिक रूप में इस स्वच्छंद-कामी पाश्चात्य संस्कृति से चिपकने की| नवगीतकारों की यथार्थ चिंता दिनों-दिन विकराल और विकट रूप धारण करती इस संस्कृति के नकारात्मक प्रभाओं से है-कवि शैलेन्द्र शर्मा आश्चर्यचकित हैं इस बात से कि-

घर के व्यंजन रास ने आते/
विज्ञापन का दौर
लगभग कथा यही घर-घर की/
दिल्ली क्या बंगलौर
'फ़ास्ट-फ़ूड' लगते हैं रुचिकर/
चूल्हा फांके धूल
आदर्शों की पगडण्डी पर
चलने की कोशिश
अपनी इस संस्कृति को बचुआ
कहता 'व्हाट रबिश'
चार्वाक के सूत्र सत्य हैं
बाकी सभी फिजूल||"[18]

इस चराचर संसार में मनुष्य सभी विकल्पों में प्रथम स्थान रखता था| आज उसका प्रथम होना एक बीते समय की कहानी सी हो गई है| यह सच है कि आज व्यक्ति स्वयं से ऊपर उठकर परिवार, परिवार से ऊपर उठकर समाज और समाज से ऊपर उठकर विश्व-समाज की चिंता करने लगा है| परन्तु सच यह भी है कि विश्व-समाज की परिकल्पना और चिंता करने वाला वही मानव स्वयं के समस्याओं एवं परिस्थितियों में उलझा हुआ है| इन उलझनों से वह इतना अधिक बिखर गया है कि कौन कहे विकसित होते सभ्यता के साथ मानवीय संवेदनाओं को और अधिक विकसित करने की, उसका अनवरत क्षरण करता जा रहा है| हमारे द्वारा किए जा रहे सकारात्मक प्रयत्नों के साकार न हो पाने में एक कारण हो सकता है जो हमें उस रूप में कार्य करने के लिए रोके जो यथार्थतः हमको करना है| वह कारण है पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति| सभ्यता की बात करें तो हमारी युवा पीढ़ी पूर्ण रूप से इसके शिकंजे में फंसती जा रही है| जितनी छटपटाहट पारिवारिक बंदिशों एवं सामाजिक अनुशासनों से मुक्त होने की है उससे कहीं अधिक रूप में इस स्वच्छंद-कामी पाश्चात्य संस्कृति से चिपकने की| यह इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि-

लाजों के गहने अब
बातें इतिहास की
सबको ही छलती है
रातें उल्लास की
जो भी अब घटता है
सब कुछ दिनमान है...|
पश्चिम के बासनों ने
पूरब को ताका है
अंग सभी उघरे हैं
सहमा हर नाका है
अपनाये व्यसनों से
दुनिया हैरान है.....||"[19]

नवगीतकारों की यथार्थ चिंता दिनों-दिन विकराल और विकट रूप धारण करती इस संस्कृति के नकारात्मक प्रभाओं से है| उनकी दृष्टि में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के नवीन आकर्षणों से युवा पीढ़ी जहाँ उत्साहित होकर विनष्ट हो रहा है तो बुजुर्ग पीढ़ी उपेक्षित एवं ठगा हुआ महसूस कर रहा है| माधव कौशिक की यह चिंता अकारण नहीं है-

अब तो जन्म-जन्म के रिश्ते गये दिनों की बात हो गये|

उजली किरणों के सब चेहरे पलक झपकते रात हो गये|
आँखों में गहरे विषाद की थेथर जलकुम्भी उग आई|
मेरे अपने तन से जैसे रूठ गयी अपनी परछाई|"[20]

अपनी परछाई का रूठना स्वयं से विलग होकर चलना है| हमारे आचरण, हमारे व्यवहार, हमारे रीति-नीति कुछ भी तो हमारे नहीं रहे| गलत तो डॉ० जयशंकर शुक्ल यह कहना भी नहीं है कि-

"सभ्यताएँ
नग्न होती जा रहीं इस दौर में
आचरण
खोया न जाने कब कहाँ किस शोर में|"[21]

आचरण का शोर में खोना और एक समृद्ध सभ्यता का क्षरित होना भारत जैसे पारंपरिक देश के लिए बहुत बड़ी चिंता का विषय है| यहाँ अभी तक स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों से आच्छादित एक विशेष प्रकार की मान्यताओं से था| आज उन मान्यताओं पर समय की मार पड रही है| इस मार से बचने की चिंता सबमे है| यही वजह है कि सभी अपनी-अपनी सुरक्षा में मशगूल हैं| अपनी सुरक्षा के लिए तो सभी सक्षम हो सकते हैं| परन्तु उस समाज का क्या होगा जिसमें सामूहिक सुरक्षा का भाव विद्यमान है? यदि समाज विखंडित होता है फिर मनुष्य और जानवर में क्या अंतर होगा? जंगल और घर में क्या फर्क होगा? नवगीतकारों का घर को घर के रूप न देख पाने की तड़प ध्यातव्य है| हिन्दी काव्य साहित्य में यही तड़प इन्हें सबसे विशिष्ट और प्रथम पंक्ति के चिंतन-धरातल पर लाकर खड़ा करती है| यह इसलिए भी कि आज घर से घर की मान्यताओं एवं संस्कारों से सभी मुक्त होना चाहते हैं; मुक्ति की कामना युवाओं में भी है और घर को घर का रूप देने वाली उस औरत में भी जिसे गृहणी कहा गया है| सीधे शब्दों में कहें तो जब सभी घर छोड़कर होटलों और रेस्तराओं के दीवानें हो रहे हैं ऐसे समय में घर को मंदिल और नेह का दीप कहकर उसे बचाए रखने के लिए नवगीतकार संघर्ष कर रहे हैं| नवगीतकार बृजनाथ श्रीवास्तव के इस अभिव्यक्ति क्षमता में घर को इसी रूप में लिया गया है-

सच कहें/
घर हमेशा मुझे एक मंदिर लगा
भोर से शाम तक/
आरती के यहाँ गान हैं
त्याग मृत्यु प्यार के/
मूर्तिवत बंधु प्रतिमान हैं
सच कहें/
शीश पर हाथ माँ का शुभंकर लगा
आँगने द्वार तक/
खुशबुओं के यहाँ सिलसिले
लोग घर के/
जहां भी मिले हँस गले से मिले
सच कहें/
प्रेम में मार्च जैसा दिसंबर लगा
नींव विश्वास की/
यह भवन है उसी पर खड़ा
सब बड़े हैं बड़े/
किन्तु घर से न कोई बड़ा
सच कहें/

आज रिश्ता यहाँ हर दिगंबर लगा||"[22]

घर मंदिर ही होता है| मानव जीवन में विश्वास की परंपरा घर से ही उत्पन्न होती है क्योंकि घर में अपनत्व का भाव होता है| दादा-दादी, माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी ये सभी रिश्ते एक दूसरे के पारस्परिक सम्बन्ध में बंधे होते हैं| ये सम्बन्ध महज एक औपचारिक प्रथा भर न होकर सांस्कृतिक अर्थ से मंडित होते हैं| यहाँ यह समझना भी अति आवश्यक है कि किसी भी संस्था का संस्कृतिकरण यकायक नहीं हो जाता| उसमें समय लगता है| डॉ० राधेश्याम शुक्ल की दृष्टि से समझा जाए तो "घर/चीजों से नहीं/ललित रगों से बनता है|/हँसी-ठिठोली,/नेगचार के रिश्तों से घर है;/घर, घरनी से,/तुतले किन्हीं फरिश्तों से घर है|/मंडप, सप्तपदी,/कोहबर की थापों से घर है;/बेटी के हाथों/हल्दी के छापों से घर है| पुरखों के संचित पुण्यों/ 'भागों' से बनता है|"[23] घर को घर के रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए सहायक इन सभी आवश्यकताओं की खोज में कितने युग और कितनी सदियाँ बीत गयी; हतभाग्य इस वर्तमान समय का जो 'बाहर' की चकाचौंध में उलझकर 'घर' के अस्तित्त्व को ख़त्म करने पर तुला हुआ है| सभ्यता के इस दौर में हमारे द्वारा खोजे गए वे पारंपरिक प्रतिमान भी हमसे दूर होते जा रहे हैं, फिर सभ्य का होने का अर्थ ही क्या? मधुकर अष्ठाना की यह चिंता इस 'बाहरी' आकर्षण के मायाजाल में बर्बाद होते एक 'घर' की ही चिंता है-

सभ्य हुए हम,
सभ्य हुए हम
रीति-रिवाजों,
रिश्ते-नातों के
इस घर में टूट गये दम
भूल गये
चौका-बासन,चूल्हा चकिया में
सूखा चेहरा
लगा हुआ सबके अंतर पर
अब पश्चिमी पलस्तर
गहरा||"[24]

हालाँकि अभी इस 'पश्चिमी पलस्तर' और बाहरी आकर्षण के उजाले में घर की आवश्यकता का आभास हमें नहीं हो रहा है लेकिन जिस 'बाहर' के आकर्षण में हम उलझकर अपने घर को बर्बाद कर रहे हैं उन बाहर वालों से घर के महत्त्व को पूछें...निश्चित ही वे अपने दर्द को अभिव्यक्त नहीं कर पाएंगे| डॉ० शुक्ल का यह कहना विल्कुल सच है कि- "घर' को 'घर' समझो,/वर्ना यह घर खो जाएगा;/ढूँढे नहीं मिलेगा,/यह दुर्लभ हो जाएगा|"[25] दुर्लभ हुई चीजों को फिर से वर्तमान करना कोई सहज कार्य नहीं है इसलिए प्रयत्न घर को बचाने का हम सबको करना होगा|

लेकिन परिवार को परिवार और घर को घर के रूप में न रह पाने का एक प्रमुख कारण इस देश की आर्थिक समस्या और उस समस्या के निदान में अपनाई जाने वाली हमारी आर्थिक नीतियाँ भी उतनी ही उत्तरदायी हैं जितना कि और अन्य कारण| सच यह भी है कि जो समय हमें परिवार के साथ बैठकर सार्थक संवादों में व्यतीत करना चाहिए वह समय हम अपने द्वारा लिए कर्जों के भुगतान की सोच में व्यतीत कर रहे हैं| यह सोच और कर्ज की चिंता पूरे महीने जब तक कि नई तनख्वाह नहीं आती तब तक बनी रहती है

"जेहन में किश्तें बैठी हैं
घर की, मन की औ' जीवन की
व्याज बड़ा, पूँजी छोटी है
जीवन रूपी मुक्त गगन की
नया माह आते ही आती
कुदरत की काई दोबारा|"[26]

आदमी कितना कमाएगा? कमाने की भी तो कोई सीमा होती है| फिर जो मजदूर हैं, जिनकी सरकारी नौकरियाँ नहीं हैं वे तो सबसे अधिक दुखी हैं| उनके दुखी होने का कारण जहाँ रोजगार का न उपलब्ध होना है वहीं मिल-मालिकों द्वारा किया जाने वाला शोषण भी है| यह एक कटु सच्चाई है और इससे मजदूर वर्ग हैरान भी है और परसान भी कि वे सबसे ज्यादा खटते हैं, सबसे अधिक कमाते हैं इसके बावजूद घर में खाने भर का भोजन नहीं हो पाता| वह इस आश्चर्य-लोक लोक में विचरण करता हुआ

"ताक रहा आकाश कभी
और कभी धरती में ताके
दिन रात कमाने पर भी घर में
होते हैं क्यों फाँकें?"

और फिर यह सच कि-

"धनिया तू ही देख जमाना
कैसी करवट लेता है|
मेहनत कश को
कौन यहाँ पर कभी कहाँ कुछ देता है
बबली मुन्ना का बस्ता भी नीति लुटेरी ले गयी|"[27]

''नीति लुटेरी'' की चर्चा यहाँ उन आर्थिक नीतियों से है जिसके तहत लोगों को अपनी पारंपरिक श्रम-साधना को त्यागना पड़ा और फिर उसके बाद बेरोजगारी का एक बड़ा तांडव शुरू हुआ| इसी तांडव का ही दूसरा रूप वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण के रूप में परिभाषित हुआ| देश में भूमंडलीकरण के उफान में बाजारू-संस्कृति का तेजी से तेजी से विकास हुआ| यहाँ अर्थ के सामने समाज की समस्त आवश्यकताएँ एवं रूप गौण हो गए| व्यवहार से लेकर सिद्धांत तक सभी बाजारू-संस्कृति के समतुल्य समझे जाने लगे| डॉ० राधेश्याम शुक्ल यह चेतावनी घर को सम्हालने वाली औरतों को भी देते हैं और किसी भी रूप में इस संस्कृति के आवरण में न उलझने की सीख भी "चूल्हे तक बाजार आ गया,/अम्मां, घर सँभाल कर रखना ||"[28] यहाँ भारतीय संस्कृति और उसके पारंपरिक श्रम-साधना का कोई महत्व नहीं रह गया और मनुष्य की स्थिति इस कदर हो गयी कि स्वयं स्वीकार कर बैठे, "मल्टीनेशनल प्लेटों में हम,/जैसे सजे 'पुलाव';/हमें परदेशी खाएगा||"[29]

नवगीतकारों के हृदय में उठाने वाली असली चिंता का विषय यह भी है कि क्या मानव-हृदय में विद्यमान मानवीयता को सुरक्षित रखा जा सकेगा? सुरक्षा के लिए हमने सैनिकों का निर्माण किया| सुरक्षा के लिए ही हमने राज्यों की सीमाओं का संधान किया| सुरक्षा के लिए ही अनेकों प्रकार के अत्याधुनिक हथियारों के अस्तित्व की परिकल्पना किया और एक हद तक उसे साकार रूप भी दिया| सवाल ये है कि क्या हम सुरक्षित हैं? यदि हैं तो देश में नित-प्रतिदिन बढ़ रहे नक्सलवाद/मावोवाद की क्या वजह है? सम्पूर्ण संसार में आतंकवादी समूहों के उदित होने के क्या कारण हैं? क्या कारण हैं कि रोज ही हजारों-लाखों की जाने जा रही हैं हिंसा, आगजनी और विस्फ़ोट में? बढ़ रही हिंसा, आगजनी, आतंकवाद आदि अमानवीय समस्याओं से नवगीतकारों का हृदय व्यथित है| माधव कौशिक के शब्दों में कहें तो "आतंकवाद के चलते मानसिक संत्रास तथा पीड़ादायक भय का अजगर चारों ओर पसर रहा है| रचनाकर को ऐसी परिस्थितियों में दोहरे मानसिक संताप से गुजरना पड़ता है| समाज की पीड़ा के साथ-साथ उसे समय की रक्त-रंजित कराह को भी सही परिप्रेक्ष्य में दर्ज करना होता है|"[30] और यह सब बदले हुए सन्दर्भों में परिभाषित होने लगती हैं, स्वयं माधव कौशिक के इस नवगीत में इसी स्थिति और यथार्थ परिदृश्य का चित्रण किया गया है-

"पहले बदले अर्थ हमारे शब्दों के
फिर बाहरी हो गेई हमारी भाषाएँ
हिंसा-आगजनी की काली लपटों में
धूमिल हो गई कल की सारी आशाएँ
किसकी छाया में बैठेंगी उम्मीदें||"[31]

उम्मीदें, मनुष्य को मनुष्यता के मार्ग में लाने की उम्मीदें| विश्व बन्धुत्त्व और सत्यम, शिवमं, सुन्दरम् की भावना से परिपूर्ण होने की उम्मीदें| 'सूखने को आ गए हैं' नवगीत में मधुकर अष्ठाना इस चिंता से उबरने के लिए तथा उम्मीदों को प्राप्त करने और उनका विकास करने के लिए समाज में जीवन-यापन करने वाले प्रत्येक सामाजिक सदस्य से यह निवेदन करते हुए दीखाई देते हैं-

"सूखने को आ गये हैं/नेह के झरने/कि कुछ तो कीजिए
हंस मानस के/चले हाराकिरी करने
कि कुछ तो कीजिए/खो गए हैं शब्द या
संवेदना के यत्न/हुई ओझल
संस्कृति की/उत्सवी हलचल
आदमी से आदमी/अब तो लगा डरने
कि कुछ तो कीजिए/दौड़ते हैं पेट
अब थकती नहीं बाहें/दूर होती जा रहीं
गंतव्य की राहें /पाँव है बेजान जाती
चेतना मरने/कि कुछ तो कीजिए||"[32]

मानव की मानवीयता को बचाए रखना आवश्यक है| समय के साथ चलते हुए प्रगति की निरंतरता को भी सहेज कर रखना आवश्यक है| सवाल ये है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम किस हद तक और कितना सक्रिय हैं|

इन सभी चिंताओं एवं समस्याओं के बावजूद नवगीतकारों को पूर्णतः विश्वास है कि समय-समाज में विद्यमान सभी प्रकार के अनिश्चितताओं को मेटते हुए सुनहरा समय आएगा जरूर| समय कुछ भले लग जाए पर "हाँ, देखना/इस झील में ही, एक दिन/महकते शतदल खिलेंगे/आज जल कुम्भी/भले छायी हुई हो/नील-निर्मल सतह पर/काई हुई हो/यत्न कर इनको हटाओ/और देखो/ झाँकते बादल मिलेंगे||"[33] कितना सुखद समय होगा जब नवगीतकारों का यथार्थ चिंतन जन-समुदाय के दिलो-दिमाग पर प्रस्तुत होकर संस्कार और व्यवहार का पाठ पढ़ाएगा और सच्चे अर्थो में बादल बरसने के लिए मनुष्य के इशारे का इन्तजार करेगा न कि समय और मौसम का|

संदर्भ ग्रन्थ

[1] शुक्ल, डॉ० जयशंकर, तम भाने लगा, दिल्ली, पूनम प्रकाशन, 2014-2015 (भूमिका से), पृष्ठ-13
[2] अभिव्यक्ति, मधुकर अष्ठाना का आलेख, उत्तर प्रदेश में नवगीत का भविष्य, 1 अप्रैल, 2014
[3] हिंदी नवगीत : सृजन और सन्दर्भ, डॉ० कुंदनलाल उप्रेती का लेख,
[4] गौतम, सुरेश, नवगीत : इतिहास और उपलब्धि, नई दिल्ली, शारदा प्रकाशन, पृष्ठ-21
[5] कौशिक, माधव, नवगीत की विकास यात्रा, पंचकूला, हरियाणा साहित्य अकादमी, 2007, पृष्ठ-3
[6] गौतम, सुरेश, नवगीत : इतिहास और उपलब्धि, नई दिल्ली, शारदा प्रकाशन, पृष्ठ-21
[7] कौशिक, माधव, नवगीत की विकास यात्रा, पंचकूला, चण्डीगढ़ साहित्य अकादमी, 2007, पृष्ठ-4-5
[8] उदयभानु मिश्र, माध्यम, जनवरी, 1968, पृष्ठ-21
[9] द्रष्टव्य-कौशिक, माधव, नवगीत की विकास यात्रा, पंचकूला, हरियाणा साहित्य अकादमी, 2007, पृष्ठ-7
[10] सिंह, डॉ० राजेंद्र प्रसाद, गीतांगिनी पत्रिका, (नवगीत अंक) जुलाई, 1969, पृष्ठ-53
[11] कटियार, डॉ० प्रेमकुमारी, प्रश्नों की परिधि में समकालीन गीत, नई दिल्ली, नमन प्रकाशन, 2013, पृष्ठ-157
[12] द्रष्टव्य-कुमार, डॉ० सुरेन्द्र, माधव कौशिक का रचना संसार, दिल्ली, ज्ञानोदय, 2007, पृष्ठ-121
[13] शुक्ल, डॉ० राधेश्याम, त्रिकाल के गीत, गाजियाबाद, उद्योग नगर प्रकाशन, 2010, पृष्ठ-70
[14] कुमार, डॉ० सुरेन्द्र, माधव कौशिक का रचना संसार, दिल्ली, ज्ञानोदय प्रकाशन, 2007, पृष्ठ-141
[15] श्रीवास्तव, बृजनाथ, दस्तखत पलाश के, कानपूर, गौरव प्रकाशन, द्वितीय संस्करण-2012, पृष्ठ-47-48
[16] वात्स्यायन, सच्चिदानन्द, युग संधियों पर, दिल्ली, सरस्वती विहार, 1981, पृष्ठ-75

[17] कौशिक, माधव, मौसम खुले विकल्पों का, दिल्ली, स्वराज प्रकशन, 1993, पृष्ठ-54
[18] शर्मा, शलेन्द्र, सन्नाटे ढोते गलियारे, कानपुर, मानसरोवर, 2009, पृष्ठ-75-76
[19] शुक्ल, डॉ जयशंकर, ताम बहाने लगा, दिल्ली, पूनम प्रकाशन, 2014-2015, पृष्ठ-98
[20] कौशिक, माधव, मौसम खुले विकल्पों का, दिल्ली, सरोज प्रकाशन, 1993, पृष्ठ-12
[21] शुक्ल, डॉ० जयशंकर, ताम भाने लगा, दिल्ली, पूनम प्रकाशन, 2014-2015, पृष्ठ-57
[22] श्रीवास्तव, बृजनाथ, रथ इधर मोड़िये, कानपुर, मानसरोवर, 2013, पृष्ठ-27
[23] शुक्ल, डॉ० राधेश्याम, कैसे बुनें चदरिया साधो, गाजियाबाद, अनुभव प्रकाशन, 2012, पृष्ठ-128
[24] अष्ठाना, मधुकर, हाशिए समय के, लखनऊ, उत्तरायण प्रकाशन, 2015, पृष्ठ-104
[25] शुक्ल, डॉ० राधेश्याम, कैसे बुनें चदरिया साधो, गाजियाबाद, अनुभव प्रकाशन, 2012, पृष्ठ-129
[26] शुक्ल, डॉ० जयशंकर, ताम भाने लगा, दिल्ली, पूनम प्रकाशन, पृष्ठ-41
[27] श्रीवास्तव, बृजनाथ, दस्तखत पलाश के, कानपुर, गौरव प्रकाशन, द्वितीय संस्करण-2012, पृष्ठ-65
[28] शुक्ल, डॉ० राधेश्याम, कैसे बुनें चदरिया साधो, गाजियाबाद, अनुभव प्रकाशन, पृष्ठ-89
[29] वही, पृष्ठ-88
[30] कौशिक, माधव, नवगीत की विकास यात्रा, पंचकूला, हरियाणा साहित्य अकादमी, 2007, पृष्ठ-96
[31] कौशिक, माधव, मौसम खुले विकल्पों का, दिल्ली, सरोज प्रकाशन, 1993, पृष्ठ-29
[32] आष्ठाना, मधुकर, कुछ तो कीजिए, लखनऊ, उत्तरायण प्रकाशन, 2013, पृष्ठ-16-17
[33] शर्मा, शैलेन्द्र, सन्नाटे ढोते गलियारे, कानपुर, मानसरोवर, 2009, पृष्ठ-138